

# 14 शिक्षा में थियेटर

लक्ष्मी कृष्णमूर्ति

जिला मंगलौर में कुण्डपुरा के कन्सर्नड फॉर वर्किंग चिल्ड्रन (सी.डब्ल्यू.सी.) केन्द्र में 'जीवन–कौशल' कार्यशाला का एक दृश्य :

*कार्यशाला में निकट के गाँवों से 10 से 15 साल आयु वर्ग के बच्चे हैं। वे सी.डब्ल्यू.सी. के होस्टल में रहने और विभिन्न सरकारी स्कूलों में पढ़ने वाले बच्चे हैं। उन्हें पाँच–पाँच, छह–छह के समूहों में यह चर्चा करने को कहा गया है कि कक्षा में जाति–आधारित भेदभाव के उनके क्या अनुभव हैं। इसके बाद प्रत्येक समूह को अपने जीवन का ऐसा ही एक वास्तविक अनुभव सबके सामने अभिनीत करके दिखाना था। तत्पश्चात सभी बच्चों में चर्चा होती है।*

यह देखकर हैरत होती है कि बच्चे भेदभाव के कितने रंग चित्रित करते हैं। शिक्षक और बच्चों के बीच तथा बच्चों के आपसी भेदभाव के अलावा उच्च तथा निम्न जातियों के माँ–बाप के प्रति शिक्षक के अलग–अलग बर्ताव को भी वे वर्णित करते हैं। यह आखिरी बात सबसे अधिक अप्रत्याशित है। इसके बाद एक अच्छी–खासी चर्चा होती है। बात कक्षा में भेदभाव से व्यापक समुदाय में भेदभाव के कई चेहरों की ओर बढ़ती है।

महत्त्वपूर्ण है कि चर्चा में भाग लेने वालों की वे भावनाएँ और नजरिए खुलकर सामने आते हैं जिन्हें आमतौर पर पहचान नहीं मिल पाती – यहाँ इनके बारे में बात होती है, विश्लेषण होता है। यह चर्चा उन्हें स्वयं को समझने में तो मदद करती ही है, उस व्यापक समुदाय के अन्य लोगों को भी समझने में सहायक होती है जिसमें अलग–अलग जाति तथा वर्ग की विभिन्न परतें शामिल हैं।

किसी स्थिति को अभिनीत किया जाता है तो वह हमारे अभी के वर्तमान में जीवन्त हो उठती है और 'अब' की तात्कालिकता में प्रतिक्रियाएँ और भावनाएँ सबके सामने होती हैं – वे उन्हें अनुभव कर सकते हैं।

बच्चे अपने सामाजिक परिवेश के बारे में और उसमें अपने विशेष स्थान के बारे में सीख रहे हैं – पाठ्यपुस्तकों और व्याख्यानों के माध्यम से नहीं बल्कि अपने अनुभवों को जीते हुए। और यही बात कार्यशाला में भाग ले रहे वयस्कों पर लागू होती है – शिक्षकों, माता–पिता, बच्चों की देखभाल करने वाले अभिभावकों पर।

वयस्क हैरत भरी प्रतिक्रिया देते हैं कि "हम तो जानते ही नहीं थे कि वे कितना कुछ समझते हैं!" कुछ सतर्कता के साथ ही सही, उनमें बच्चों के प्रति आदर भाव आने लगता है।

बच्चे कोई नाटक नहीं देख रहे; वे पाठ्यपुस्तक से किसी स्थिति को भी अभिनीत नहीं कर रहे – हालाँकि ये दोनों शिक्षा में थियेटर के ऐसे तरीके नहीं हैं जिन्हें प्रयोग में



न लाया जाता हो। 'मुद्दे' के अनुभव में से होकर गुजरते और उसके बारे में बात करते बच्चे दिमागी तौर पर तो विषय को समझते ही हैं, उसे अपनी भावनाओं, मूल्यों और पूर्वाग्रहों — 'महसूस' की गई बातों — के माध्यम से भी समझ रहे हैं। क्या इस बात की सम्भावना अधिक नहीं है कि इस सबको वे अधिक देर तक, अधिक गहरे तक याद रख पाएँगे, न कि ऐसे ही एक पाठ को? इस प्रक्रिया में बाहरी संसार का फलक उनके लिए अधिक व्यापक हो जाता है, उनके अपने भीतर की दुनिया में एक गहराई आ जाती है तथा यह सब एक सूचना–सम्पन्न और उदार विश्व–दृष्टि के बनने में भी योगदान देता है। ऐसा न होने की स्थिति में उनकी विश्व–दृष्टि उनके परिवारों के सदस्यों और बिलकुल निकट–समाज के मूल्यों तथा विचारों तक सीमित रह जाती।

इसी तरह के और भी बहुत मुद्दे हैं, जिनमें से कुछ को हम इस आलेख में आगे चल कर छुएँगे। लेकिन पहले हम 'थियेटर' के इस रूप को उसके बड़े परिप्रेक्ष्य में स्थित करते हैं।

थियेटर/ड्रामा लगभग तब से ही अस्तित्व में है जब से इन्सान। इस लम्बे समयकाल में थियेटर ने कई शक्लें बदली हैं। स्थितियाँ और उद्देश्य भिन्न–भिन्न रहे हैं:

- लगता है कि प्राचीन काल के लोग शिकार की घटना के चित्रण को कभी तो कामयाब शिकार की रिहर्सल– और कभी उसके उत्सव, उसका जश्न मनाने — के तौर पर प्रयोग में लाते थे। दोनों ही सन्दर्भों में अभिनेता होते हैं और दर्शकगण भी।
- धर्म के लोकप्रियकरण के लिए, उसे बढ़ावा देने के लिए, थियेटर के प्रयोग के दो प्रमुख उदाहरण पूरब में हिन्दुवाद और पश्चिम में ईसाइयत हैं। इस सन्दर्भ में ईसा मसीह के जीवन और बाइबिल से विभिन्न घटनाओं को चित्रित किया जाना, और इसी प्रकार महाभारत और रामायण से प्रसंगों को नाटकीयता से प्रस्तुत किया जाना शामिल रहा है। विशेष तौर से इन्सान के साक्षर होने से भी पहले के दौर में इन घटनाओं और प्रसंगों के चित्रण को नाट्य–प्रदर्शनों के माध्यम से जाना और पसन्द किया जाता था। बाद में टेलीविजन और सिनेमा के माध्यम से भी यह हुआ। इसमें भी अभिनेता और दर्शक दोनों शामिल रहते हैं।
- चर्च से राज्य और नागरिक समाज तक, धर्म से राजनीति तक, थियेटर प्रतिरोध के आन्दोलनों का शक्तिशाली राजनैतिक साधन और औजार बना; राजनीतिक थियेटर से लेकर आज के 'नुक्कड़ नाटक' तक। भारत में एक ओर तो यह 'इप्टा' के मंच प्रदर्शनों से लेकर सफ़दर हाशमी के सशक्त वक्तव्यों तक, और दूसरी ओर प्रायोजित समूहों के जागरूकता मात्र फैलाने के प्रदर्शनों में झलकता है। वे चाहे धार्मिक हों चाहे राजनीतिक या फिर जागरूकता पैदा करने की ओर



प्रवृत्त, इन सब प्रदर्शनों में अभिनेता और दर्शक शामिल रहते हैं।
- और इसके अलावा, बड़े पैमाने पर मनोरंजन के लिए थियेटर तो है ही — जो विचारोत्तेजक, हास्य पैदा करने वाला, नवाचारी, अतियथार्थवादी,.... कुछ भी हो सकता है — भास से लेकर शेक्सपियर तक का फैलाव है इसका। मनोरंजन करने वाले और मनोरंजित होने वाले; प्रदर्शनकर्ता और दर्शकगण दोनों ही हैं इसमें भी।

'दृश्य' और उसकी विस्तृत जानकारी, जिसका वर्णन हम पहले कर चुके हैं, "लोगों द्वारा, लोगों का, लोगों के लिए" की तरतीब में है, इस अर्थ में कि लेखक/नाटककार,

अभिनेता और दर्शकगण में कोई अन्तर नहीं है – सब एक हैं।

इस प्रकार का थियेटर वैयक्तिक विकास को बढ़ावा देने और 'जीवन कौशलों' को मन में बैठाने के मकसद से बना है – ताकि बच्चे अपने आसपास के कई परतों वाले संसार से आत्मविश्वास और आत्म–सम्मान के साथ आदान–प्रदान करना सीख पाएँ। अन्य प्रकार के सब (या अधिकतर) थियेटर में मूल उद्देश्य वैयक्तिक विकास का नहीं होता। यह बात और है कि विभिन्न 'पात्रों के चरित्र को अन्दर तक समझने' की प्रक्रिया में कई बार यह भी हो जाता है।

जैसा कि कहा जा चुका है, आजकल बहुत जगह कक्षाओं में थियेटर का प्रयोग पाठों को जीवन्त बनाने के लिए किया जाता है। यह याददाश्त को सुदृढ़ तथा एकीकृत करने का एक अच्छा तरीका है। लेकिन यहाँ आकर सीमा बंध जाती है – थियेटर का यह प्रयोग उससे आगे तक नहीं जाता।

इस आलेख की शुरुआत में जिस प्रकार के 'थियेटर' का जिक्र किया गया है, उस प्रकार की कार्यशाला के कई उदाहरण हैं (देखिए'सन्दर्भ')। यहाँ कुछ और उदाहरण दे रहे हैं जो देश के विभिन्न हिस्सों में लम्बे समयकाल के दौरान की गई कार्यशालाओं से हैं।

इनमें भी लगभग वही कुछ हुआ जिसके बारे में ऊपर बात की गई है – एक छोटे समूह में चर्चा, फिर अभिनय, जिसके बाद बड़े समूह में चर्चा होती है।

इन कार्यशालाओं में बच्चे आमतौर पर 10 से 15 साल के बीच के होते हैं। वे सरकारी स्कूलों से और आमतौर पर ग्रामीण इलाकों से होते हैं, हालाँकि कुछ शहरी इलाकों से भी होते हैं। बहुत बार शिक्षक और माता–पिता या बच्चों की देखभाल करने वाले भी मौजूद रहते हैं। इसी प्रकार की कार्यशालाएँ किशोरियों और वयस्क महिलाओं के साथ भी हुई हैं, जिनमें सम्बद्ध 'मुद्दों' पर प्रतिक्रियाएँ अलग–अलग अवश्य थीं।

## मंचन की कुछ स्थितियाँ

### चोरी करना

- विद्यार्थियों का मानना था कि चोरी करना अपने आप में बुरी बात है लेकिन स्थिति तब और भी खराब होती है जब अन्य लोगों, विशेषकर आपके साथ के लोगों को, इस बारे में पता चल जाता है। बच्चे यह सोचकर भी डरते हैं कि स्कूल में की गई चोरी के बारे में घर पर जानकारी हो जाएगी – होने वाली पिटाई का उन्हें इतना डर नहीं होता जितना कि परिवार की इज्जत–मर्यादा खोने की जिम्मेदारी उन पर आने का डर। चोरी घर पर की गई हो तो उसे कभी भी सार्वजनिक नहीं किया जाता – इसलिए कि परिवार का नाम और इज्जत बनाए रखना आवश्यक माना जाता है।

### ईनाम मिलना

- ईनाम मिलने पर बच्चे को हमेशा खुशी होती है लेकिन माता–पिता अगर इस बात को कोई विशेष महत्त्व नहीं देते – जैसा कि अकसर होता है – तो यह खुशी मद्धम पड़ जाती है। आभार वक्तव्य में बच्चा हमेशा अपने शिक्षक और माता–पिता का जिक्र करता है, "जिनकी मदद और प्रोत्साहन के बिना मैं यह ईनाम कभी नहीं जीत पाता।" व्यक्तिगत सफलता पर कम ध्यान दिया जाता है – यह सोचकर कि बच्चे को बुरी 'नजर' से बचाना और उसमें अत्यधिक 'अहं' आने से रोकना है। लेकिन बच्चे प्रशंसा चाहते हैं, जो हमेशा की नहीं जाती – उनके लिए ईनाम से अधिक महत्त्व प्रशंसा का है।

### विवाहित बेटी घर लौटती है

- इस अभिनय में पिता और भाइयों की भूमिका निभाने वाले बच्चे बहुत जोर–शोर से लड़की द्वारा अपने ससुराल लौट जाने के हक में बात करते हैं। बहनें और माताएँ तो सहानुभूति रखती हैं लेकिन वे भी इसी हक की हैं कि लड़की अपने ससुराल लौट जाए हालाँकि यह बात वे कुछ दबी सी आवाज में कहती हैं। स्वयं लड़की से यह नहीं पूछा जाता कि वह क्या चाहती है।

अभिनय–दर–अभिनय, हमारे पूछने पर कि वह क्या करना चाहेगी, लड़की हमेशा यही कहती है कि वह ससुराल लौट जाएगी–वह अपनी पहचान को अपने ससुराल के साथ बंधा हुआ ही देखती है –"अपनी माँ के यहाँ तो मैं कुछ भी नहीं हूँ।"

### झगड़ते माता–पिता

- माता–पिता का झगड़ा बच्चों को बहुत अन्दर तक परेशान करता है–हालाँकि उन्हें (विशेष तौर से लड़कों को) झगड़े का अभिनय करने में बहुत मजा आता है। कुछ समूह सन्दर्भ को बदल देते हैं–वे माता–पिता के झगड़े को अभिनीत नहीं करते। क्या वे परिस्थिति से डरा हुआ महसूस करते हैं? परिवार के नाजुक मुद्दों को खुले में नहीं लाना चाहते? मालूम नहीं। हम इस विषय को आगे नहीं बढ़ाते। व्यावहारिक, गैर–जज्बाती अर्थों में बच्चे कहते हैं कि झगड़ों से उनकी पढ़ाई में व्यवधान पैदा होता है।

दो–एक कार्यशालाओं में अभिनय नहीं किए गए। वहाँ प्रतिभागियों से इस तरह की तथा अन्य ऐसी ही स्थितियों के बारे में पूछा गया तो एक–आयामी उत्तर मिले – वे अभिनय तथा तत्पश्चात चर्चा के बाद दिए गए उत्तरों की तरह गहराई लिए हुए, बहुमुखी और उत्साही नहीं थे।

बात चाहे स्कूल में सीखने–सिखाने के वातावरण की हो या व्यापक संसार में वयस्कों के साथ अन्त:क्रिया में आने की, इन अभिनय सत्रों और चर्चाओं का 'सत्त' बच्चों



के विकास और सशक्तीकरण के लिए कल्पित/विकसित रणनीतियों के लिए उपयुक्त और संगत है। बच्चा अपनी समझ के साथ कहाँ खड़ा है, हम इस बात को समझ पाएँ तो उसके साथ आदान–प्रदान तथा अन्त:क्रिया अधिक सार्थक होंगे:

- परिवार की **इज्जत/मर्यादा** का बनाए रखना न केवल बड़ों के लिए बल्कि बच्चों के लिए भी मूल महत्त्व की बात है। इसका एक उदाहरण यह सर्वसम्मत निर्णय है कि कुछ भी हो, शादीशुदा लड़की का स्थान तो उसकी ससुराल में ही है।
- इसी से यह बात निकलती है कि दृष्टिकोण और व्यवहार को ढालने में **'लोग क्या कहेंगे'** की महत्त्वपूर्ण भूमिका है।
- **बाहरी दिखावा बनाए रखना है** –जैसे, बड़ों का आदर करना। हो सकता है कि कुछ बड़ों में 'अच्छे' गुण न हों, लेकिन आदर तो देना ही होगा – क्योंकि वह तो 'स्थान' या कहें कि रिश्ते या ओहदे के लिए है न कि 'व्यक्ति' के लिए।
- इसके बाद **समकक्षों में हमारी छवि** की बात आती है। यह सहन करना बहुत कठिन होता है कि आप डाँटे या पीटे जाने पर, विशेष तौर से छोटा दिखाए जाने पर, दोस्तों और सहपाठियों के हास्य का पात्र बनें। इस स्थिति से उबरने में बहुत वक्त लगता है। शिक्षक या माता–पिता द्वारा अकेले में डाँटे जाने का असर इतना बुरा नहीं होता। बच्चे के मन में यह बात तो आती है कि 'मुझे हमेशा अन्य लोगों के सामने छोटा क्यों दिखाया जाता है?' वयस्कों के लिए यह ध्यान देने की बात है।
- **'कर्तव्य'**, न कि **'अधिकारों'** के प्रति रुझान। एक उदाहरण–परिचय सत्रों में सबसे कहा गया कि वे अपना एक ऐसा गुण बताएँ जो उन्हें पसन्द है। सबने जवाब दिया–दूसरों की मदद करना, समाज–सेवा का रुझान होना, एक–दूसरे के मुताबिक ढलने का माद्दा, आदि। इससे ही यह बात निकलती है कि किसी भी सफलता के लिए प्रशंसा दबी हुई ही हो, बच्चे को उसके कद

तक ही सीमित रखा जाए, ताकि उसमें अत्यधिक 'अहं' की भावना न आए।

- **वयस्क और बच्चे, दोनों ही स्वयं को परिवार, जाति, समुदाय के हिस्से के तौर पर देखते हैं न कि व्यक्ति के रूप में।** पहली वफादारी बड़े समूह के प्रति रहती है। खुद को बढ़ावा देने की बात को परिवार/बड़े समूह को बढ़ावा देने के मुकाबले कम महत्त्व दिया जाता है। वयस्क और बच्चे **'भूमिकाएँ'** हैं न कि **व्यक्ति।** इस बात की ओर ध्यान देना बहुत महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि व्यक्तिगत सफलता के इस प्रतिस्पर्धात्मक संसार में व्यक्तिगत विकास का पारिवारिक मूल्यों के साथ सन्तुलन बैठाना बहुत जरूरी हो जाता है–किसी विशेष मानसिक और भावनात्मक कष्ट के बिना यह कैसे किया जाए?

अन्त में, यह बात दोहराने लायक है कि वयस्क (शिक्षक, माताएँ तथा देखभाल करने वाले अन्य लोग) इन बच्चों के विश्लेषण की परिपक्वता और समझ की गहराई पर हैरान थे। तो बच्चे भी आखिर इन्सान हैं और चाहे झिझकते हुए ही, मगर कहना पड़ा कि वे हमारे **'आदर'** के हकदार हैं। आमतौर पर आदर कम उम्र वाले अधिक उम्र वालों का करते हैं, किसी बड़े के द्वारा बच्चे को आदर दिए जाने के बारे में सोचना भी एक क्रान्तिकारी बात लगती है।

और वास्तव में, क्या दो इन्सानों के बीच तसल्लीबख्श तथा इच्छापूरक अन्त:क्रिया हो पाए, इसके लिए 'आदर' का होना जरूरी नहीं है? क्या यह ऐसी अन्त:क्रिया का सार–तत्त्व नहीं है?

**References:**


*Workshops have been conducted for children (boys and girls), adolescent girls and women, at various forums organised by: Concerned for Working Children, Child Fund India (formerly CCF), Women's Development Programme, Mahila Samakhya, Education Resource Unit. etc.

# 'Lived Experience as Theatre' – Essay in 'Researching Families and Children'. ed. By S. Anandalakshmy, et al. Pub. By SAGE. 2008.

#'Listening to Children' by Lakshmi Krishnamurty and Vani Periodi – part of a larger study – 'Snakes and Ladders'. Study organised by Education Resource Unit. 2003.

#'A Child and Her World – The Real and the Possible'. Study organised by CCF (now Child Fund of India). 2004.



***लक्ष्मी कृष्णमूर्ति*** *अनुभव और योग्यता से मानव–विज्ञानी हैं। वे थियेटर में दिलचस्पी भी रखती हैं और उसमें कार्य भी करती हैं। वे थियेटर और मानव विज्ञान, दोनों क्षेत्रों में अपनी रुचि को सामाजिक–आर्थिक तौर पर वंचित महिलाओं और बच्चों के समूहों के लिए अपने काम में स्थान देती हैं। उन्होंने अनुसन्धान का अपना काम 1960 में मद्रास विश्वविद्यालय से शुरू किया था। वे 1970 के दशक में दिल्ली आ गईं जहाँ उन्होंने अपनी मित्र त्रिपुरारी शर्मा के साथ मिलकर अलारिप्पु (यानी, खिलती कली) नामक गैर सरकारी संस्था की शुरुआत की। अलारिप्पु ने नुक्कड़ नाटक से अपना काम शुरू किया और बाद में थियेटर का प्रयोग 'गुणवत्तापूर्ण' शिक्षा और 'जीवन कौशलों' को बढ़ावा देने के लिए भी किया।*

*इसके साथ ही उनकी निरन्तर रुचि और ध्यान इस बात पर रहा है कि थियेटर का प्रयोग अनुसन्धान की प्रक्रिया में शामिल लोगों के जीवन, अनुभूतियों और विश्व–दृष्टियों पर अनुसन्धान के लिए हो। उनका विशेष ध्यान उनकी 'आवाज' को सामने लाने पर रहा है जिन पर अनुसन्धान हो रहा है। उनसे lakshmi33@gmail.com पर सम्पर्क किया जा सकता है।* ***अनुवादः*** *रमणीक मोहन*